मुक्तिकामी ज्ञान की खोज

शशांक चतुर्वेदी

साहित्यिक का कर्तव्य तो स्पष्ट है कि वे कभी किसी प्रथा को चिरंतन न समझें, किसी रूढ़ि को दुर्विजय न मानें और आज की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकालसिद्ध सत्य न मान लें।

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
मेरी जन्मभूमि (चुने हुए निबंध, पृ. 62)

ज्ञान की राजनीति *(2022)*
मणीन्द्र नाथ ठाकुर
सेतु प्रकाशन, नई दिल्ली.
पृष्ठ : 360.
मूल्य ₹ 297.

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में वैचारिक द्वंद्व की जो तस्वीर उभरती है उससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रिटिश हुक़ूमत के ख़िलाफ़ सत्ता के लिए हमारा संघर्ष वास्तव में *ज्ञान की राजनीति* में हमारे वैचारिक दख़ल का भी संघर्ष था। गांधी के *हिंद स्वराज* के पुनर्पाठ के हवाले से हमें ज्ञात है कि किस प्रकार पश्चिमी ज्ञान मीमांसा और सत्ता मीमांसा के प्रति एक प्रकार का संशय भारत की सामूहिक चेतना में रहा है। इस संशय की पड़ताल से यह भी मालूम होता है कि स्वतंत्र भारत में उभरे एक विशेष प्रकार के बौद्धिक वर्चस्व (इंस्ट्रुमेंटल रीजनिंग) ने व्यक्ति, समाज,

धर्म और राजनीति के अंतर्संबंधों को भारतीय दर्शन परंपरा के संदर्भ में समझने की संभावनाओं पर पर्दा ही डाला। भारत और तीसरी दुनिया के अनेक देशों में इंस्ट्रूमेंटल रीजनिंग ने स्थानीय ज्ञान परंपराओं को गहरा नुक़सान पहुँचाया। इस क्रम में ऐसे कई समुदायों का भी विनाश हुआ, जो भौगोलिक स्तर पर अलग-थलग होने के बावजूद अपने ज्ञान परंपरा में विकसित मानव और प्रकृति के परस्परव्यापी रिश्तों की विशेष समझ रखने में पारंगत थे। संक्षेप में कहें तो ज्ञान की राजनीति में पश्चिमी ज्ञान ने अन्य सभी ज्ञान विमर्शों को एक सिरे से ख़ारिज कर दिया। अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययन ये स्थापित करते हैं कि आधुनिक भारत के पूर्वार्द्ध, अर्थात् औपनिवेशिक काल से ही बौद्धिक धरातल पर सभ्यता बोध के प्रतिमान राष्ट्रीयता के संकीर्ण खाँचे में परिभाषित हो पाने में स्वयं को असहज पाते रहे हैं। ऐसी स्थिति में परंपरागत धर्म, सभ्यता और राजनीति नए युग के विचारों के साथ टकराव की स्थिति में बने हुए हैं। हाल के दशकों में बौद्धिक जगत इन समस्याओं का कोई मौलिक समाधान ढूँढ़ पाने में असफल रहा है।

उपरोक्त संदर्भ में मणीन्द्र नाथ ठाकुर की किताब *ज्ञान की राजनीति* एक ज़रूरी हस्तक्षेप है। यह समाज विज्ञान में गहरे पैठे रूढ़ियों और अकादमिक प्रथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन है जिसमें मणीन्द्र 'समाज अध्ययन के ज्ञान को 'मुक्तिकामी' बनाने के लिए उसे मानव 'जीवन के अलग-अलग आयामों के अंतर्संबंधों से जोड़कर एक पूर्णता की कल्पना' को एक अनिवार्य शर्त बताते हैं। लेखक का यह स्पष्ट विचार है कि 'पश्चिम के जिस आधुनिक चिंतन के आधार पर समाज अध्ययन का महल टिका है उसके मूल में ही एक गंभीर समस्या है' (पृ. xiv)। इस समस्या को रेखांकित करते हुए वह आगे बताते हैं कि पश्चिमी चिंतन में मनुष्य को केवल एक विवेकशील प्राणी तो मान लिया गया है किंतु उसके स्वभाव के अन्य आयाम विश्लेषण से बाहर रह जाते हैं। इस किताब का मूल उद्देश्य है कि सामाजिक अध्ययन में व्याप्त इस समस्या के समाधान के लिए 'मनुष्य के स्वभाव की जटिलता' को समझने का प्रयत्न करना। लेखक का यह आग्रह है कि इस क्रम में हमें भारतीय दर्शन से काफ़ी कुछ मिल सकता है क्योंकि 'भारतीय दर्शन में मनुष्य के स्वभाव के बहुआयामी होने की अवधारणा है' (पृ. xv)।

किताब के पहले अध्याय – 'भारतीय दर्शन से संवाद' की शुरुआत होती है इस प्रश्न से कि समाज अध्ययन के विद्वान भारतीय दर्शन को क्यों महत्त्व नहीं देते? उत्तर तलाशते हुए जब हम आगे बढ़ते हैं तो पश्चिमी ज्ञान के दर्शन के सीमित आधार और एकरेखीय अथवा एकपक्षीय होने से परिचय होता है। हमें यह भी ज्ञात होता है कि दर्शन और धर्म के अंतर्संबंधों की जटिलता का पश्चिमी परंपरा संज्ञान नहीं लेता है जिसके कारण भारतीय ज्ञान परंपराओं से संवाद स्थापित नहीं हो पाता। यहीं से किताब अपने मूल उद्देश्य को विश्लेषण के केंद्र में रख कर भारतीय दर्शन से संवाद के लिए उपागम की खोज में आगे बढ़ती है। लेखक का तर्क है कि भारतीय दर्शन में ईश्वर तत्त्व का कोई विशेष

प्रभाव नहीं है। ऐसे में एक जनतांत्रिक संवाद के उपागम का प्रयोग भारतीय दर्शन और समाज अध्ययन के बीच संवाद की संभावना तलाशने के लिए करना चाहिए। ठाकुर के अनुसार पश्चिमी दर्शन की समस्या है कि वह भारतीय दर्शन में स्थूल और सूक्ष्म के बीच के संबंध को 'रिलिजन' की तरह देखता है। लेकिन ठाकुर यह भी रेखांकित करते हैं कि पश्चिम में केवल यही उपागम उपलब्ध हो ऐसा भी नहीं है। लेखक को यहाँ पश्चिम दर्शन परंपरा के इन मुक्तिकामी उपागमों को भी साथ ही साथ उल्लेख करना चाहिए था, जो भले ही यूरोप में भी हाशिए पर ही रहे किंतु कला, संस्कृति, इतिहास लेखन, साहित्य इत्यादि में समय-समय पर अति बुद्धिवाद और यांत्रिकी तार्किकता से पनपे असहजता को अपने समाज और पूरी दुनिया से साझा किया। ठाकुर अगर इन बातों को भी यहाँ पर ले आते तो इस अध्याय में किताब की विमर्श का महत्तम वितान उभरता और संवाद की संभावना को तलाशने की प्रक्रिया को और बल मिलता।

'पुरुषार्थ' और 'विकार' की अवधारणा को आधार बना कर दूसरा अध्याय समाज अध्ययन में इसकी उपयोगिता पर बल देता है। मनुष्य क्या है? इसके जातीय गुण क्या हैं? और वह किस तरह समाज का निर्माण करता है? इस प्रकार के कुछ मूलभूत सवालों को विमर्श के केंद्र में रखते हुए लेखक पश्चिमी दर्शन में मौजूद जवाबों को खँगालता है। ठाकुर का यह आग्रह है कि समाज अध्ययन के विद्वानों को समाज के तत्त्व मीमांसा की एक वैकल्पिक समझ बनानी होगी। वह समाज दर्शन के विद्वानों को आमंत्रित करते हैं कि वे पुरुषार्थ और विकार की अवधारणा को मुक्तिकामी समाज की संकल्पना के केंद्र में रख कर समाज को समझने का प्रयत्न करें। इस दृष्टि से ठाकुर का अध्ययन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कोण से मनुष्य के स्वभाव का मौलिक विश्लेषण करने में सफल होता है जो न केवल किताब के मूल विमर्श को एक सैद्धांतिक आधार प्रदान करता है बल्कि इस पूरे शोधप्रबंध का सबसे सशक्त अध्याय के रूप में सामने आता है। इस अध्याय में भारतीय चिंतन परंपरा में, ख़ासकर योग सूत्र के हवाले से अगर मनुष्य के चित्त-वृत्ति और स्वभाव के परस्पर संबंध पर भी बात की गई होती तो शायद मुक्तिकामी दर्शन के तलाश की इस कोशिश को और भी व्यापक आधार मिलता। किताब के वितान को देखते हुए ऐसी अपेक्षा रखना असंगत नहीं माना जाना चाहिए।

तीसरे अध्याय में समाज अध्ययन के लिए भाषा का विमर्श, अनुभवजन्य ज्ञान की उपयोगिता, भारतीय चिंतन परंपरा में मुक्तिकामी पक्ष इत्यादि विषयों पर विद्वानों के मौजूदा समझ का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया है। लेखक का मूल प्रश्न है कि जिन समाजों ने आधुनिकता के दर्शन को अंगीकार नहीं किया या जिन्हें यह मुहैया नहीं हुआ (जैसे आदिवासी या जन जातीय समूह आदि), ऐसे समाज में समाज अध्ययन का क्या कोई अपना स्वरूप हो सकता है। ठाकुर इस अध्याय में इस बात की पूरी तसदीक़ करते हैं कि किस प्रकार से *पंचतंत्र*, *योगवासिष्ठ*, दलित चिंतक तुलसीराम की आत्मकथा *मुर्दहिया* और इस श्रेणी के अन्य

ग्रंथों को आधार बना कर समाज अध्ययन से अर्जित ज्ञान को बहुपक्षीय बनाया जा सकता है। आत्मकथाओं को आधार बना कर समाज अध्ययन के उपागम को विकसित किए जाने की संभावना पर भी एक विमर्श है जो निम्न चार महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार करता है : क्या समाज अध्ययन का कोई भारतीय स्वरूप, जो मुक्तिकामी भी हो, संभव है? क्या अनुभवजन्य ज्ञान मीमांसा में हाशिए के लोगों के लिए मुक्तिकामी समझ की संभावना ज़्यादा है? समाज अध्ययन के ज्ञान का उद्देश्य क्या है? ज्ञान का मापदंड क्या है? इन सवालों पर लेखक ने अपनी राय देते हुए समाज अध्ययन के पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की कल्पना भी की है।

चौथा अध्याय भी पिछले अध्यायों के मूल विषय को तार्किक रूप से आगे बढ़ाते हुए आधुनिक चिंतन दर्शन में व्याप्त एकपक्षीय खंडित ज्ञान का सीमांकन करता है। लेखक यहाँ से आगे समाज अध्ययन में नए रास्ते तलाशने की जिजीविषा को बनाए रखने के कारणों पर प्रकाश डालता है। अध्याय में इस तर्क को बल मिलता है कि 'हम संक्रमण काल से गुज़र रहे हैं। इस समय समाज में सब कुछ बदल रहा है और यह बदलाव केवल ऊपरी तौर पर नहीं हो रहा बल्कि वह तात्विक है' (पृ. 175)। यहाँ बदलाव से इशारा उत्पादन की व्यवस्था और नए वैज्ञानिक खोजों से आने वाले बदलाव की तरफ़ है, जिसका दूरगामी प्रभाव समूची दुनिया के हर प्रकार के व्यवस्था पर पड़ेगा। इसी क्रम में, अध्याय में पुरुषार्थ के चारों आयाम अर्थात् अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष के व्यावहारिक पक्ष को पश्चिमी ज्ञान-दर्शन के केंद्र बिंदु में रख कर एक संवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। धर्म को प्रकृति का ज्ञान और सामाजिक नियम से जोड़ कर विस्तृत व्याख्या की गई है जो समाज अध्ययन में एक नई संभावना को जन्म देती है जिससे की 'पश्चिम और भारतीय ज्ञान परंपराओं में एक चिंतन संवाद की शुरुआत की जा सकती है' (पृ. 223)। इस अध्याय के संदर्भ में ही अगर धर्म और पहचान की राजनीति के अंतर्संबंधों पर भी कुछ चर्चा होती तो शायद और बेहतर समझ बनती। हालाँकि इसकी विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में जनतंत्र के सापेक्ष मिलती है।

पाँचवें अध्याय में चिंतन संवाद के माध्यम से विभिन्न ज्ञान परंपराओं को 'ज्ञान की औपनिवेशिक राजनीति से मुक्त' करने पर बल दिया गया है। साथ ही लेखक का यह भी मानना है कि चिंतन संवाद से 'आज के समय की समस्याओं का भी बेहतर विश्लेषण करना संभव होगा' (पृ. 224)। वे इसे 'विश्लेषणात्मक प्रयोगों' की संज्ञा देते हैं और साथ ही यह भी आग्रह करते हैं कि इन प्रयोगों को लगातार समय की कसौटी पर कसते रहा जाए । चिंतन संवाद आधारित प्रयोग को आधार बना कर मणीन्द्र इस अध्याय में भारतीय जनतंत्र की सफलता को मापने का प्रयत्न करते हैं। अध्याय के एक अन्य हिस्से में धर्म की राजनीति की समीक्षा लेखक के इस विषय पर मौलिक और गंभीर चिंतन को प्रकट करता है। 'धर्म और राजनीति' के विद्यार्थियों के लिए यह अध्याय उनकी इस विषय पर समझ को

निश्चित रूप से एक नया आयाम देगा। धर्म की आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता की समझ की सीमाओं का विश्लेषण यह अध्याय विस्तार से करता है। इस क्रम में मणीन्द्र ठाकुर किताब के मूल उद्देश्य को लेकर आगे आते हैं और 'धर्म ज्ञान है' के सिद्धांत को तार्किक ढंग से रखते हैं। हालाँकि कुछ जगह लेखक को अपने विचार और स्पष्ट ढंग से रखना चाहिए था। मसलन, मणीन्द्र ठाकुर जब कहते हैं कि हिंदुत्ववादी राजनीति के बदलते माहौल में 'आधुनिक चिकित्साशास्त्री भी मरीज़ों को पूजा-पाठ करने की सलाह देते हैं क्योंकि उनका विश्वास अपनी ही ज्ञान मीमांसा पर कम हो गया है' (पृ. 262)। क्या लेखक का यहाँ यह कहना उचित नहीं होता कि आधुनिक चिकित्साशास्त्री भी दक्षिणी गोलार्द्ध के आम जनमानस की तरह लोक ज्ञान और आधुनिक ज्ञान के 'दुई पाटन के बीच' पिस रहे हैं? आधुनिक चिकित्सा और लोक ज्ञान के संदर्भ में मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'मंत्र' क्या इस बहस में हमें आगे का रास्ता दिखा सकती है? धर्म और चिकित्सा के संदर्भ में तो अब पश्चिमी देशों में भी नई बहस हो रही है कि धार्मिक विश्वासों का सकारात्मक प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य पर पड़ता है। इस विषय पर लेखक ने शुरू के अध्याय में चर्चा तो की है लेकिन इस अध्याय के संदर्भ में और स्पष्टता की दरकार रह गई है।

अंतिम अध्याय धर्म के विमर्श को एक नया आयाम देता है और हिंदू धर्म में आंतरिक आलोचना की गंभीर परंपरा को रेखांकित करने के साथ ही उसकी उपयोगिता को भी प्रकट करता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी की *अनाम दास का पोथा* और जयशंकर प्रसाद की *कंकाल* को आधार बना कर ठाकुर इस सिद्धांत का परीक्षण करते हैं कि किस प्रकार मुक्ति आंदोलनों में संस्कृति, धर्म, दर्शन और भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है बशर्ते उसमें आंतरिक आलोचना का आत्मबल हो। इस क्रम में अंतिम अध्याय हमें यह भी इंगित करता है कि वर्तमान के बुद्धिजीवियों में इसके प्रति सजगता की कमी देखी जा सकती है।

इस किताब की समीक्षा से इतर भी अगर देखें तो यह लगता है कि स्वतंत्र भारत के पास शुरुआती वर्षों में शायद कुछ संभावना रही हो कि वह एक समाज और राष्ट्र के रूप में मुक्तिकामी ज्ञान की परंपरा को आगे ले जाए। शायद उसकी दुविधा यह थी कि वो या तो अपनी खंडित चेतना से पीछे मुड़ कर इतिहास की परंपरा को स्वीकार करे या फिर भविष्योन्मुख हो कर 'तर्क' और तार्किकता' के उस वर्चस्व को स्वीकार करे जिसके सामने पूरा पश्चिम नतमस्तक था। उपनिवेशवाद के दौर में जो ज्ञान परंपरा भारत में आयातित हुई उसका प्रारूप कुछ इस प्रकार से था। यूरोप के दो आधुनिक किंतु विपरीत वैचारिक ध्रुवों – उदारवाद और मार्क्सवाद – ने उस मानववाद को आधार बनाया जो आधुनिक पश्चिमी चिंतकों के खंडित चेतना और प्रत्यक्षवाद में सामंजस्य बिठा कर समाज के आदर्शों को रेखांकित करता है। इनमें मनुष्य और 'अहंवाद' (ईगोइज़्म) मानवीय और प्राकृतिक संबंधों के केंद्र में था। यूरोप में मानववाद का विकास सोलहवीं और

सत्रहवीं शताब्दियों के नवजागरण के दौरान हुआ और मार्क्सवाद ने 19वीं शताब्दी में उस पर प्रामाणिकता का मोहर लगाया। उद्देश्य जितना भी 'पवित्र' रहा हो, मार्क्सवाद भी उसी खंडित चेतना पर आधारित था जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर सवार हो कर उदारवाद के रूप में बंगाल में नवजागरण का पाठ पढ़ाने आया। कहीं न कहीं भारत में समाज अध्ययन में यह खंडित चेतना गहरे पैठ गई है और ऐसे में मणीन्द्र नाथ ठाकुर की यह कृति आगे का रास्ता दिखाती है।

किताब में पृष्ठ दर पृष्ठ 'संवाद' शब्द की पुनरावृत्ति से यह ज्ञात होता है कि लेखक का आग्रह बहुत ही साफ़ है। समाज अध्ययन स्थापित विधाओं की परिपाटियों का लकीर के फ़क़ीर होने से बचे। किताब ने हिंदू दर्शन को धर्म दर्शन से आगे ले जाकर भारतीय दर्शन के रूप में चिह्नित करने का प्रयत्न किया है। समाज अध्ययन की शोध प्रविधि (रिसर्च मेथड) में पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की उपयोगिता को रेखांकित कर इसका इस्तेमाल करते हुए *ज्ञान की राजनीति* में लेखक ने बखूबी सिद्ध किया है कि भारतीय-दर्शन परंपरा में तत्त्व ज्ञान और स्थूल ज्ञान के अतिरिक्त 'रिसर्च मेथड' के संदर्भ में भी बहुत कुछ सीखने के लिए है।

भारतीय-दर्शन और समाज अध्ययन के बीच संवाद क्यों अपेक्षित है? इस सवाल का जवाब ढूँढ़ते हुए ठाकुर कहते हैं कि 'भारतीय चिंतन में जो मनुष्य की अवधारणा है उसमें सार्वभौमिकता पश्चिमी दर्शन से कहीं ज्यादा है' (पृ. xv)। यहाँ एक बड़ा सवाल खड़ा होता है: लेखक का यह विचार क्या दर्शन परंपराओं के संवाद को फिर से उसी सापेक्षिकता और पहचान की राजनीति की अंधी गलियों की तरफ़ नहीं ले जा रहा है जहाँ से निकलने का आग्रह ही किताब का प्रस्थान बिंदु है? इस प्रश्न का सटीक उत्तर किताब में बहुत साफ़ नहीं है। हालाँकि लेखकीय मंतव्य को लेकर तो कोई संशय नहीं है, वह पहचान की राजनीति (और हिंदुत्व) से भारतीय चिंतन परंपरा को हुए और होने वाले नुक़सान के प्रति सजग है। उम्मीद है किताब के अगले संस्करण में ऐसे ढीले-ढाले वक्तव्यों को बेहतर शब्द चुनाव से सुधार दिया जाए और संशय की संभावना सिरे से ख़ारिज हो जाए।

ज्ञान की राजनीति की समीक्षा के संदर्भ में अगर हम ख़ुद से पूछें कि भारतीय ज्ञान परंपरा से संवाद स्थापित करने की क्या शर्तें हैं, तो कुछ इस तरह के ख़याल उभरते हैं। अब जब कि पश्चिमी समाज भी अपनी ज्ञान मीमांसा के प्रति आश्वस्त नहीं रह गया है, यह सही अवसर है कि हम देशी वैचारिक परंपरा को केंद्र में रख कर समतामूलक समाज के प्रारूप पर विश्व की समस्याओं के विविध समाधान ढूँढें। इस क्रम में पहली शर्त होगी कि हम इन ज्ञान परंपराओं की आंतरिक ज्ञान आलोचना के लिए स्वयं को प्रेरित करें। इस आलोचना की पद्धति के ढेरों उदाहरण हमें अपनी ही परंपरा में बिखरे मिलेंगे। दूसरी शर्त है कि भारतीय ज्ञान की विभिन्न धाराएँ आंतरिक संवाद में एक प्रकार का लोकतांत्रिक विमर्श खड़ा करें। यहाँ हमें गांधी और सावरकर के मध्य लंदन के इंडिया हाउस में 1909 में हुए संवाद को संदर्भ के रूप में देखना चाहिए कि किस प्रकार से धुर विपरीत

वैचारिक परंपरा भी आपस में संवाद से परहेज़ नहीं रखती और विचारों के मर्म को टटोलने का प्रयत्न करती हैं। *ज्ञान की राजनीति* में भारतीय ज्ञान पद्धतियों के हस्तक्षेप करने के क्रम में तीसरी शर्त बनती है हमारी सभ्यता का समग्रता बोध। निर्मल वर्मा सभ्यता बोध को परिभाषित करते हुए कहते हैं – एक सभ्यता का समग्रता बोध 'अर्थों का वह तंतुजाल है, वह टेक्सचर है, जहाँ सब धागे एक समूचे जीवन की अर्थव्यवस्था के पैटर्न बनते हैं; एक का अर्थ दूसरे में खुलता है, दूसरे का तीसरे से जुड़ा है – अर्थों की अन्योन्याश्रित व्यवस्था – जिसमें भीतर और बाहर का संबंध – मनुष्य की एकीकृत आत्मछवि और बाहरी जगत की विविध अनंत छवियाँ एक ही सूत्र में अंतर्ग्रंथित हैं।'[1]

हमारा यह मानना है कि स्थानीय दर्शन परंपराओं का उपमहाद्वीप के आमजीवन के विभिन्न आयामों में किसी न किसी रूप में प्रकट होते रहना यह प्रमाणित करता है कि उपरोक्त तीन शर्तों को ज्ञान की राजनीति में स्वीकार करना कठिन नहीं होगा। भारतीय चिंतन परंपरा में इस बोध की एक निरंतरता है जो और उसके कुछ धुँधले पदचिह्न इसके चित्त और मानस पर अभी भी संभावित है। बुद्ध, कबीर, गोरखनाथ, नानक, तिरुवल्लुवर, गांधी, टैगोर, विनोबा भावे, लोहिया, दीनदयाल उपाध्याय, जे. कृष्णमूर्ति, हजारी प्रसाद द्विवेदी, निर्मल वर्मा जैसे बहुत से विचारक कहीं न कहीं उस बोध की चेतना के प्रति सचेत हैं, जो यूरोप में आधुनिक मानवतावाद के भेंट चढ़ गए। वैश्विक समस्याओं के संदर्भ में भारतीय ज्ञान परंपरा को पुनर्स्थापित करना मुक्तिकामी समाज के स्थापना की अनिवार्य शर्त है। *ज्ञान की राजनीति* के माध्यम से लेखक ने आत्ममंथन और निर्मम आत्मविश्लेषण का जो आग्रह किया है अगर उस पर बढ़ा जाए तो समाज अध्ययन की दिशा में आमूलचूल परिवर्तन की संभावना बनती है। लेखन का सबसे मज़बूत पहलू है कि वह हमें समाज अध्ययन की एक नई विधा के लिए आमंत्रित करता है जिसमें भारतीय चिंतन परंपरा को प्रसंगानुकूल प्रश्नों के बीच रख कर परख करने की सहूलियत है। समाजशास्त्र की चूक गई विद्वत्ता को दरकिनार करके यह किताब नई संभावनाओं को तलाशने का तर्कपूर्ण आधार भी देती है। इसके मूल में चिंतन संवाद से वैश्विक समाज के विभिन्न ज्ञान परंपराओं के मध्य एक जनतांत्रिक साम्य स्थापित करना है। सीधी रेखा खींचना अगर टेढ़ा काम है तो लेखक ने यह टेढ़ा काम इस किताब की भाषा से कर दिया है और जटिल बौद्धिक विमर्शों को सरल और ग्राह्य बना दिया है। चिंतन संवाद की अनिवार्य शर्त है सहज-सुलभ भाषा में अपनी बात को कहना, लेखक ने जनभाषा हिंदी में एक गूढ़ विमर्श रचा है, और इसलिए उनकी मुक्तिकामी परियोजना दोहरे स्तर पर सफल है.

समीक्षा लेख हजारी प्रसाद द्विवेदी के उद्धरण से शुरू हुआ था तो उनके ही एक अन्य उद्धरण से अंत करना तर्कपूर्ण होगा। अपनी पुस्तक *सहज साधना* के अंतिम निबंध के अंत में द्विवेदी जी कहते हैं – 'मैं समझता

[1] निर्मल वर्मा (2001) : 16.

हूँ कि न तो इस बात की उपेक्षा कर सकते हैं कि हमारा मुख्य प्रश्न इस समय कोटि-कोटि लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, और न हम यह भुला सकते हैं कि इस युग में जड़-विज्ञान ने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन दिए हैं। 'व्यक्ति-मानव' की समस्याओं का हल करना आज पर्याप्त नहीं है। 'समाज-मानव' की समस्या ही हमारे विचारकों को अधिक व्याकुल और चिंतित बनाए हुए हैं। इसलिए यदि हम आज की दुनिया की इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, तो ये बड़ी से बड़ी साधनाएँ निरर्थक हैं।'[2] *ज्ञान की राजनीति* का भी यही सार है।

संदर्भ

निर्मल वर्मा (2001), *प्रतिश्रुति के क्षेत्र : भारत और यूरोप,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

मणीन्द्र नाथ ठाकुर (2012) *संक्रमणकाल में राजनीतिक चिंतन*, *अकार,* अंक 25.

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी (1989) *सहज साधना*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

________(2006) *चुने हुए निबंध*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली.

[2] द्विवेदी : 199.